

सुभाष चन्द्र बोष एवम् जवाहरलाल नेहरु की वैचारिक विभिन्नता : स्वरूप और सन्दर्भ

गिरीश चन्द्र पाण्डेय¹

¹एसोसिएट प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग, स्वामी देवानन्द पोस्ट ग्रेजुएट कालेज मठ- लार, देवरिया, उ0प्र0, भारत

ABSTRACT

सुभाष चन्द्र बोष एवम् जवाहरलाल नेहरु भारतीय स्वाधीनता संग्राम की ऐसी दो महत्वपूर्ण शख्सियतें हैं जो वामपंथ से प्रभावित होने के बावजूद भी वैचारिकता के धरातल पर साथ साथ न होकर बिल्कुल आमने सामने खड़े हैं। ये भारतीय इतिहास की दो धाराओं और दो परम्पराओं के प्रतीक हैं। वामपंथी विचारधारा के अनुयायी होने के बावजूद राजनीतिक सोच, सामाजिक संस्कार और राष्ट्र के प्रति समर्पण की दृष्टि से इनके व्यक्तित्व में परस्पर विरोधाभास इतना अधिक था कि दोनों ने जीवन पर्यन्त एक दूसरे को खुले मन से कभी स्वीकार नहीं किया। सुभाष चन्द्र बोष कॉमिन्टर्न मुक्त वामपंथी थे। जिनके चिन्तन में पहले और बाद में सिर्फ और सिर्फ राष्ट्र ही था। इसलिए वह भारत से प्रत्येक दश में ब्रिटिश साम्राज्य को समाप्त कर देने के पक्षधर थे। जिसके लिए उन्हें 'धुरी राष्ट्र' से भी सहयोग लेने में कोई परहेज नहीं था। जबकि कॉमिन्टर्न प्रभाव में पूरी तरह से सराबोर पंडित जवाहरलाल नेहरु के लिए उस समय भी भारत की आजादी से अधिक सोवियत-चीनी कम्युनिस्ट का हित ही ज्यादा महत्वपूर्ण लग रहा था। सोवियत संघ के हित में जापान को उन्होंने काल्पनिक शत्रु मान लिया था और चीन के अन्दर चल रहे कम्युनिस्ट आन्दोलन की सफलता को लेकर भी काफी चिन्तित थे। (देव, 2017, पृ0135) सुभाष चन्द्र बोष द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान धुरी राष्ट्रों में अत्यधिक शक्तिशाली बनकर उभरे जापान की मदद से जहां एक तरफ ब्रिटिश सरकार को भारत से उखाड़ फेंकने के लिए कृत संकल्पित थे तो वहीं दूसरी ओर जवाहरलाल नेहरु को भारत-सोवियत संघ-चीन सभी का शत्रु केवल जापान ही दिखायी दे रहा था।

KEYWORDS: भारतीय मुक्ति संग्राम, वामपंथ, राष्ट्रवाद, सुभाष चन्द्र बोष, जवाहर लाल नेहरु

जापान ने जुलाई 1941 में वियतनाम पर कब्जा करके जिस समय विश्व युद्ध में प्रवेश किया था उस समय जनरल हिदेकी टोजो जापान में सरकार का नेतृत्व कर रहे थे। जापानी सेना ने वियतनाम पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लेने के पश्चात् प्रशान्त महासागर की ओर बढ़ने लगी और 07 दिसम्बर 1941 को उसने हवाई द्वीप में संयुक्त राज्य अमेरिका के पर्लहार्बर स्थित अमेरिकी नौसैनिक अड्डों पर पूरी ताकत से हमला कर दिया। यह हमला इतना कितना सांघातिक था इसका अन्दाजा सिर्फ इसी बात से लगाया जा सकता है कि इसमें अमेरिका के कुल 188 विमान सहित अनेक युद्धपोत तहस नहस हो गये और लगभग दो हजार से अधिक सैनिक मारे गये। जापानी हमले से बुरी तरह से तिलमिलाए अमेरिका ने इसके अगले ही दिन 08 दिसम्बर 1941 को जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और 11 दिसम्बर 1941 को जर्मनी और इटली ने भी अमेरिका के खिलाफ युद्ध का सिंहनाद करके उसे विश्वयुद्ध का रूप दे दिया। 1942 के अन्तिम दिनों तक जापान ने प्रशान्त क्षेत्र के अनेक द्वीपों पर अपना प्रभुत्व कायम करते हुए फिलीपींस, इंडोनेशिया, बर्मा(म्यानमार), सिंगापुर, मलाया, मंचूरिया, कोरिया तथा थाइलैण्ड को अपने अधीन कर लिया था। जापानी सैन्य शक्ति के बढ़ते प्रभाव ने सोवियत संघ, ब्रिटेन और चीन सहित ब्रिटिश भारत की सरकार, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और कांग्रेस में रहकर राष्ट्रीय हितों पर सोवियत हितों को वरियता देने वाले जवाहरलाल नेहरु के मन में भय उत्पन्न कर दिया था। यही कारण है कि नेहरु ने जापान के

विरुद्ध युद्ध करने के लिए लाखों गुरिल्लाओं को तैयार करने की योजना पर भी काम करने की जरूरत बतायी थी (लोहिया, 2005,पृ030) जबकि इसके ठीक विपरित 'दुश्मन का दुश्मन दोस्त' की सर्वविदित चाणक्य नीति का अनुसरण करते हुए सुभाष चन्द्र बोष शक्तिशाली जापान के सहयोग से भारत को ब्रिटिश पराधीनता से मुक्त कराने के लिए प्राण प्रण से संघर्ष कर रहे थे। सुभाष चन्द्र बोष और जवाहरलाल नेहरु की सोच में यह विरोधाभास इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि भारतीय कांग्रेस कमेटी में वामपंथी विचारधारा से सर्वाधिक प्रभावित सदस्य होने के बावजूद इन दोनों ही शख्सियतों की आस्था, स्वभाव, संवादशैली, विचार, कार्यप्रणाली और राष्ट्रीय निष्ठा जैसे प्रश्नों पर गम्भीर मतभेद था।

भारतीय राजनीति में जवाहरलाल नेहरु का प्रत्येक आचरण, योजना, विचार और कार्यक्रम कॉमिन्टर्न के निर्देश पर 'क्रेमलिन' के हित में संचालित हो रहा था। वे भारत के होते हुए भी भारत सहित सारे संसार में सोवियत हितों के सच्चे प्रतिनिधि थे। भारत की स्वतन्त्रता उन्हें इसलिए प्रिय थी क्योंकि उसमें उन्हें अपने राजनीति के सुनहरे भविष्य की झलक दिखलायी पड़ रही थी। इसलिए महात्मा गांधी की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक नीतियों से गम्भीर असहमति के बावजूद उन्होंने सम्पूर्ण स्वाधीनता संग्राम में महात्मा गांधी के नेतृत्व को विवशता पूर्वक स्वीकार किया क्योंकि ऐसा न करने से उनके लिए भारतीय

राजनीति में स्वयम् को प्रासंगिक बनाये रखना कही अधिक जोखिम भरा कार्य होता। नेहरू का सम्पूर्ण जीवन आत्मश्लाघा से भरा पड़ा था। यह इस तथ्य से भी स्पष्ट है कि जब ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मुक्ति के लिए समूचा भारत जीवन मरण का संघर्ष कर रहा था उस समय श्री नेहरू राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम में कोई सार्थक योगदान न करने के बाद भी अपने जीवन, सोवियत समाजवाद और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का प्रचार करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास और राजनीति को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से समझने के लिए 'ग्लिमपसिस आफ वर्ल्ड'-1934 और 'एन आटोबायोग्राफी'-1936 की रचना करने में व्यस्त थे। जवाहरलाल नेहरू ने केवल कुछ दिनों के लिए ही रूस में प्रवास किया था लेकिन इतनी अल्प अवधि के प्रवास में ही वह सोवियत साम्यवादी शासन व्यवस्था के कार्यक्रमों और योजनाओं से इस कदर प्रभावित हुए कि 1929 में 'सोवियत रशिया' नामक पुस्तक का प्रणयन करके सोवियत साम्यवाद का भरपूर प्रचार प्रसार किया। अपनी इसी पुस्तक में नेहरू ने भारत को संकीर्ण, बदलाव के विरुद्ध, वर्तमान की जगह अतीत के वियावान में भटकने वाला और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से पूरी तरह से विरत राष्ट्र के रूप में चित्रित किया है।¹ रूसी साम्यवाद के जनक कार्ल मार्क्स ने भी भारत के सन्दर्भ में आश्चर्यजनक रूप से कुछ इसी तरह की धारणा स्थापित की है। अपने प्यारे भारत के लिए मार्क्स और नेहरू के विचारों की यह साम्यता यह साबित करने के लिए काफी है कि नेहरू किस हद तक भारतीय इतिहास की वैदिक परम्परा के प्रति दुराग्रही थे। स्वतन्त्रता के पश्चात देश में वामपंथी इतिहासकारों ने भी नेहरू के इसी दृष्टिकोण को भारतीय इतिहास के लेखन का आधार बना लिया जो समकालीन भारतीय राजनीति में अनेक प्रकार के विकृतियों को उत्पन्न करने के लिए उत्तरदायी है।

रूस में साम्यवादी क्रान्ति की सफलता और यूरोप में हो रहे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक बदलावों से नेहरू की तरह सुभाष चन्द्र बोष भी बहुत उत्साहित थे। उन्होंने भी यूरोपिय देशों की लम्बी यात्राएं की, वहां के विचारों से प्रभावित हुए और पुस्तक लेखन का कार्य किया। लेकिन ऐसा करने के पीछे उनका उद्देश्य अपनी प्रशंसा करना, यात्रा वृत्तान्त का वर्णन करना अथवा सोवियत साम्यवाद का प्रचार करना न होकर उनकी प्राथमिकता भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के उद्देश्य और उसके निहितार्थ को सारे संसार के सम्मुख प्रस्तुत करने और उसको समझने और समझाने की रही है। सुभाष चन्द्र बोष की पुस्तक 'इण्डियन स्ट्रगल' के पहले खण्ड का प्रकाशन सबसे पहले 1935 में लन्दन में हुआ था। जिसमें 1920 से 1934 तक के भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का जीवंत वर्णन किया गया है। इस पुस्तक की प्रभावशीलता का अन्दाजा सिर्फ इसी बात से लगाया जा सकता है कि पराधीन भारत की दुश्वारियों को उजागर करने और ब्रिटिश हुकूमत के द्वारा भारतीय नागरिकों के साथ किये जाने वाले अमानुषिक कुकृत्य का सारी दुनिया के सामने पर्दाफास होने के डर से घबराई ब्रिटिश सरकार ने श्री बोष के 1934 में कराची यात्रा के समय न केवल उन्हें गिरफ्तार कर लिया बल्कि पुस्तक की मूल पाण्डुलिपी भी उनसे लेकर जब्त कर ली। इसके दूसरे खण्ड का लेखन सुभाष चन्द्र

बोष ने द्वितीय विश्वयुद्ध के समय किया जिसमें 1935 से 1942 तक के कालखण्ड में देश में चलने वाले स्वाधीनता संग्राम की दशा और दिशा पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। सुभाष चन्द्र बोष और जवाहरलाल नेहरू की सोच, संस्कार, व्यक्तित्व और कार्यों में विभिन्नता का अन्तर इनके द्वारा लिखित पुस्तकों में स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

वास्तव में सुभाष चन्द्र बोष राष्ट्रीयतावादी सोशलिस्ट थे जबकि नेहरू का झुकाव अन्तर्राष्ट्रीयतावादी सोशलिज्म की ओर था। सुभाष चन्द्र बोष की प्राथमिकता में हमेशा से ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद का समूल नाश करना शामिल था जबकि श्री नेहरू का ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध विरोध मात्र उस वैचारिक परवरिश का परिणाम था जो सोवियत संघ के द्वारा किया गया था। सुभाष चन्द्र बोष 1919 में ब्रिटेन गये और 1921 में वह भारत लौट आये। वहां कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में पढ़ाई की और विश्वविख्यात आई० सी० एस० की परीक्षा में चौथा स्थान प्राप्त करने के बाद भी उन्होंने शासकीय सेवा का परित्याग इसलिए कर दिया क्योंकि उन्हें पराधीनता की शानोशौकत की अपेक्षा आजाद वतन के लिए संघर्ष करना ज्यादा श्रेष्ठ्यकर लगा। 1933 में अपनी चिकित्सा के सिलसिले में वह लगभग सम्पूर्ण यूरोप का दौरा किये और भारत के एक अनौपचारिक राजदूत की भूमिका का निर्वहन करते हुए उन्होंने आस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, हंगरी, स्वीट्जरलैण्ड, इटली, फ्रांस और जर्मनी में लगातार अपनी गतिविधियों का विस्तार किया तथा आस्ट्रिया की राजधानी वियना में 'आस्ट्रिया-इण्डिया' सोसायटी की स्थापना करके पराधीन भारत की स्वतन्त्र विदेशनीति की आधारशीला रखी। जिस समय उनको कांग्रेस ने अपना अध्यक्ष बनाया उस समय सुभाष चन्द्र बोष लन्दन में थे। फरवरी 1938 में वह हरिपुरा(गुजरात) पहुंचे जहां उनका ऐतिहासिक स्वागत सम्मान किया गया। कांग्रेस के अधिवेशन को सम्बोधित करते हुए कहा - "दुनिया की कोई भी ताकत अब हिन्दुस्तान को अधिक दिनों तक गुलाम बना कर नहीं रख सकती है।"

जिस समय सुभाष चन्द्र बोष को कांग्रेस ने अपना अध्यक्ष बनाया उस समय ब्रिटिश भारत के ग्यारह प्रान्तों में कांग्रेस की सरकार चल रही थी। भारतीय स्वाधीनता संग्राम में कांग्रेस की भूमिका को और अधिक धारदार बनाने के लिए सुभाष चन्द्र ने कांग्रेस के संगठन में आमूलचूल परिवर्तन कर दिया। कांग्रेस में हुए इस बदलाव ने गांधीवादी कांग्रेसियों और स्वयम् गांधी जी को भी बहुत नाराज कर दिया यही कारण है कि 1939 में जब उन्होंने कांग्रेस का अध्यक्ष बनने के लिए दूसरी बार नामांकन किया तो उनको रोकने के लिए स्वयम् महात्मा गांधी ने कांग्रेस में अपने भरोसेमन्द पट्टाभिषीतारमैया को उनके विरुद्ध चुनाव में उम्मीदवार बना दिया। उस समय समूचे भारत में सुभाष चन्द्र बोष की लोकप्रियता अपने चरम पर थी। त्रिपुरी कांग्रेस के अधिवेशन में महात्मा गांधी के भारी विरोध के बावजूद पट्टाभिषीतारमैया के 1377 मतों के मुकाबले 1580 मत प्राप्त करके सुभाष चन्द्र बोष का अध्यक्ष चुना जाना देश में उनकी जबर्दस्त लोकप्रियता का ही प्रमाण था।

यह देश का दुर्भाग्य था कि सुभाष चन्द्र बोष को कांग्रेस में कभी भी सहज रूप से कार्य नहीं करने दिया गया और महात्मा गांधी की अप्रसन्नता के कारण उनके दूसरी बार अध्यक्ष निर्वाचित होने के विरोध में कांग्रेस के 12 सदस्यों ने कांग्रेस से एक साथ त्यागपत्र दे दिया। सुभाष चन्द्र बोष को दोबारा अध्यक्ष बनवाने में निर्णयकारी भूमिका निभाने के बावजूद यह महात्मा गांधी के विरोध का ही प्रभाव था कि कांग्रेसी सोशलिस्टों ने भी कार्यसमिति के गठन में गांधी जी की इच्छा का सम्मान करने के प्रस्ताव पर अपनी स्वीकृति देकर सुभाष चन्द्र बोष को बीच मझधार में छोड़ दिया। सुभाष चन्द्र बोष कांग्रेस के अध्यक्ष थे लेकिन इसके बावजूद उनकी चेतावनी और उनकी सलाह का कांग्रेस में कोई महत्व नहीं था। कांग्रेस में उनके व्यक्तित्व और विचार की कोई इज्जत नहीं थी कोई कांग्रेसी उनके परामर्श को सुनने, समझने और उसे स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। फलस्वरूप भारी मन से सुभाष चन्द्र बोष ने अप्रैल 1939 में कांग्रेस के अध्यक्ष पद से अपना त्यागपत्र दे दिया। महात्मा गांधी के मन में प्रारम्भ से ही सुभाष चन्द्र बोष के प्रति अच्छी धारणा नहीं थी, इसके पीछे सम्भवतः चितरंजन दास और सुभाष चन्द्र बोष की वैचारिक नजदीकियां थीं जिसको महात्मा गांधी कभी पसन्द नहीं करते थे। 'देशबन्धु' के नाम से प्रसिद्ध चितरंजन दास भारतीय स्वाधीनता संग्राम के ऐसे नायक थे जिनका महात्मा गांधी के अहिंसा के प्रति आग्रह और उनके आन्दोलन में कोई रुचि नहीं थी। गांधी जी को चितरंजन दास के विचारों का प्रभाव सुभाष चन्द्र बोष में भी दिखायी पड़ता था। गांधी जी को हमेशा यह महसूस होता था कि सुभाष का अहिंसा में कोई विश्वास नहीं है न तो लक्ष्य तक पहुंचने के साधन के रूप में और न ही जीवन दर्शन के ही रूप में। गांधी ने सुभाष की अपेक्षा नेहरू के अन्दर के वैचारिक लचीलेपन को पहले ही भांप लिया था। उनको यह भरोसा हो गया था कि समय आने पर वह नेहरू को अपनी सोच के अनुरूप ढाल लेंगे लेकिन इसके ठीक विपरित सुभाष चन्द्र बोष में उनको यह सम्भावना कभी दिखायी नहीं पड़ी। सुभाष अपने मार्क्सवादी सिद्धान्तों तथा गांधी विरोधी विचारों के प्रति दृढ़ से दृढ़तर होते गये। गांधी के आकलन के अनुसार अहिंसा पर उनका कभी भी भरोसा नहीं था आजाद हिन्द फौज के गठन के रूप में सुभाष के सम्पूर्ण चिन्तन, प्रवृत्ति और राजनैतिक सोच को साफ साफ देखा जा सकता है। ब्रिटिश हुकूमत के विरुद्ध संघर्ष करने की सुभाष की हमेशा से ही वास्तविक रणनीति रही तथा यही उनका सपना भी था। स्वामी विवेकानन्द तथा महर्षि अरविन्द के प्रभामण्डल की छाया में पले बड़े और निरन्तर क्रान्तिकारी नौजवानों को जन्म देने वाली बंगाल की उर्वरा धरती पर जन्म लेने वाले सुभाष के विचार, नीति और दृष्टि हमेशा से ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक सशस्त्र और समग्र युद्ध में ही निहित थी। (प्रियंवद 2015,पृ070)

सुभाष चन्द्र बोष महात्मा गांधी के साथ तब तक काम करते रहे जब तक कि गांधी जी ने उनके उपर जवाहरलाल नेहरू को तरजीह नहीं दिया। नेहरू जब गांधी के साथ मिलकर ब्रिटिश सरकार से डोमिनियन स्टेट की मांग कर रहे थे उस समय सुभाष पूर्ण स्वतन्त्रता से कम किसी बात पर राजी नहीं थे। यह

उल्लेखनीय है कि गांधी 1928 तक कांग्रेस द्वारा उठाये गये पूर्ण स्वाधीनता की मांग के समर्थक नहीं थे और मूल रूप से इसी सवाल पर सुभाष का गांधी से टकराव था। 1942 में प्रकाशित जर्मनी से जुड़े एक दस्तावेज में सी0 आई0 ए0 ने यह दावा किया है कि 1939 में ब्रिटेन के कहने पर ही सुभाष को कांग्रेस में कमजोर करने की साजिश की गयी थी और अध्यक्ष पद जीतने के बावजूद उनको इस्तीफा देने के लिए विवश किया गया। (देव,2017,पृ0140) यद्यपि मतभेद के बावजूद महात्मा गांधी सहित कांग्रेस के सभी घटकों के समर्थन से ही सुभाष चन्द्र बोष को 1938 में कांग्रेस के अध्यक्ष पद पर चुना गया था लेकिन सुभाष के व्यक्तिगत आग्रह के बावजूद जवाहरलाल ने उनके नेतृत्व में कांग्रेस का महामंत्री बनने से साफ मना कर दिया था, वह कांग्रेस कार्यसमिति में भी सम्मिलित होना नहीं चाहते थे। कांग्रेस में सोशलिस्ट और वामपंथी विचारधारा के समर्थकों ने भी जवाहरलाल नेहरू के उकसावे पर सुभाष के नेतृत्व में काम करने से मना करके स्वाधीनता संग्राम को निर्णायक अंजाम तक पहुंचाने के सुभाष चन्द्र बोष के कार्यक्रम और उद्देश्य को असफल करने का हर सम्भव प्रयत्न किया। अपने लिए कांग्रेस में असहज स्थिति देखकर ही सुभाष ने आखिर में 29 अप्रैल 1939 को कांग्रेस से इस्तीफा दे दिया था। दरअसल वह यह बात भलीभांति समझ चुके थे कि गांधी का विरोध करके वह भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन को अपने तरीके से नहीं चला पायेंगे, इसलिए जब जापान, जर्मनी और इटली के संयुक्त प्रहार के आगे ब्रिटिश साम्राज्यवाद का अमेघ दुर्ग डगमगा रहा था उस समय ब्रिटेन के संकट को भारत के लिए एक अवसर के रूप में परिभाषित करने वाले सुभाष चन्द्र बोष ने चुपचाप देश से निकलकर रूस के रास्ते जर्मनी होते हुए 2 जुलाई 1943 को सिंगापुर पहुंचकर रासबिहारी बोष से आजाद हिन्द फौज का नियन्त्रण प्राप्त किया। अपनी जापान यात्रा के समय सुभाष चन्द्र बोष ने जापानी शासक तोजो से मुलाकात की। तोजो सुभाष के व्यक्तित्व से इतना प्रभावित था कि उसने यह घोषणा कर दी कि जापान भारत पर कब्जा करने के लिए नहीं वरन् उसे ब्रिटेन के चंगुल से आजाद कराने के लिए आजाद हिन्द फौज को सहयोग करना चाहता है। उस समय जवाहरलाल नेहरू देशवासियों के सम्मुख सुभाष चन्द्र बोष को भारत विरोधी साबित करते हुए देश पर जापानी हमले का भय दिखाकर उसे ब्रिटिश हुकूमत के पक्ष में खड़े होने के लिए प्रेरित कर रहे थे। सुभाष चन्द्र बोष की प्रेरणा से जापानी शासक तोजो द्वारा की गयी इस धोषणा ने नेहरू की भारत में सुभाष विरोधी इस नापाक मुहिम की हवा निकाल दी और द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान के पराजित होने के पहले तक भारत की जनता में सुभाष के नेतृत्व के प्रति गजब की दीवानगी पैदा हो गयी थी।

सुभाष चन्द्र बोष के नेतृत्व में आजाद हिन्द फौज ने 4 फरवरी 1944 को अराकान के मोर्चे को फतह करते हुए 18 मार्च 1944 को बर्मा होते हुए भारत की सीमा में प्रवेश कर लिया। जुलाई 1944 में आजाद हिन्द रेडियो पर महात्मा गांधी को सम्बोधित करते हुए सुभाष चन्द्र बोष ने कहा— "भारत की स्वाधीनता का आखिरी युद्ध प्रारम्भ हो चुका है। हे राष्ट्रपिता !

भारत के मुक्ति के इस पवित्र युद्ध में हम आपका आशीर्वाद और शुभकामनाएं चाहते हैं।" ब्रिटिश हुकूमत के विरुद्ध अपने सशस्त्र संघर्ष की औचित्यता को स्पष्ट करते हुए सुभाष चन्द्र बोष ने कहा अमेरिका और इटली को आजाद कराने के लिए जार्ज वाशिंगटन और गेरिबाल्डी के पास अपनी अपनी सेनाएं थी उसी तरह से भारत को आजाद कराने के लिए हमने भी आजाद हिन्द फौज के रूप में अपनी एक सेना बनायी है। जो भारत को पराधीनता से मुक्ति दिलाने के लिए हर कुर्बानी देने को तैयार है। स्टालिन के समाजवादी सपने से मोहित जवाहरलाल नेहरू को उस समय तक सुभाष चन्द्र बोष फूटी आंख भी नहीं सुहा रहे थे और अब वह उनका खुलकर विरोध करने लग गये थे। सुभाष चन्द्र बोष के कांग्रेस में रहते समय उन्हें अपना वामपंथी सहयोगी मानते हुए नेहरू ने कभी खुलकर उनका विरोध तो नहीं किया था लेकिन भारत को ब्रिटिश पराधीनता से मुक्ति दिलाने के लिए सुभाष द्वारा ब्रिटिश-सोवियत शत्रुओं से हाथ मिलाते ही नेहरू एकाएक उनके विरुद्ध हो गये। अपने राष्ट्रीय हितों को साधने के लिए सुभाष चन्द्र बोष द्वितीय विश्वयुद्ध के समय धुरी राष्ट्रों से हाथ मिला लिए थे ठीक उसी समय नेहरू का ब्रिटिश सरकार के पक्ष में लामबन्दी यह साबित करने के लिए काफी है कि भारतीय स्वाधीनता संग्राम को आखिर वह किस रास्ते पर ले जाना चाहते थे। श्री सुभाष और श्री नेहरू के आपसी रिश्ते हमेशा जलन की एक अर्न्तधारा से दूषित होते थे। भारत में समाजवादी राजनीति के शिखर पुरुष डॉ० राममनोहर लोहिया ने नेहरू को बहुरुपिया कहा था और उन्हें यह चेतावनी दी थी कि अगर वे अपनी सोच और कार्यशैली में परिवर्तन नहीं लाये तो देश की जनता विशेषकर सारी युवा पीढ़ी अपना नेता सिर्फ और सिर्फ सुभाष चन्द्र बोष को मानेगी। (लोहिया, 2005 पृ031)

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में राष्ट्रवादी वामपंथी विचारधारा के प्रतिनिधि नेताजी सुभाष चन्द्र बोष और सोवियत कम्युनिस्ट विचारधारा के समर्थक पं० जवाहरलाल नेहरू के आपसी रिश्ते कभी सहज नहीं रहे। सुभाष चन्द्र बोष की सोच जहां राष्ट्र के प्रति समर्पण की थी वहीं जवाहरलाल नेहरू कलाबाजियां

दिखाने और बहुरुपियागिरी में माहिर राजनेता थे। देश का शोषण करने वाली साम्राज्यवादी ब्रिटिश हुकूमत का अंध समर्थन करने की उनकी नीति कभी कभी उनके घनघोर अनुयायियों को भी अरुचिकर लगने लगती थी। धुरी राष्ट्रों का समर्थन करने के कारण ही नेताजी सुभाष चन्द्र बोष को काले गिरोह का सरगना, तोजो का कुत्ता, धुरी राष्ट्रों का पेड एजेण्ट, जापानी बम, देशद्रोही और गद्दार जैसे अपशब्दों और लांक्षनों से सम्बोधित करने वाले कम्युनिस्टों और जवाहरलाल के विचारों में आश्चर्यजनक समानता थी। (शरण, 2010) नेहरू का श्री सुभाष के साथ वैचारिक मतभेद सार्वजनिक जीवन की सारी मर्यादाओं को लांगते हुए घृणा के किस स्तर पर पहुंच गया था इसका प्रमाण 17 अप्रैल 1939 को नेताजी द्वारा अपने भतीजे अभियनाथ बोष को लिखे उस पत्र से मिल जाता है जिसमें उन्होंने लिखा— "व्यक्तिगत रूप से मुझे तथा राष्ट्रीय मुक्ति के हमारे अभियान को इस संकट के समय जितनी चोट नेहरू ने पहुंचायी है उतनी चोट तो अंग्रेजों ने भी नहीं पहुंचायी है।" (प्रियंवद, 2015) भारत की स्वतन्त्रता की कामना ने ही वैचारिक मतभेद के बावजूद श्री सुभाष और श्री नेहरू को एक साथ संयुक्त किया था लेकिन कालान्तर में वह वैचारिक मतभेद गहरे मनभेद और घृणा के रूप में परिवर्तित होकर हमारे राष्ट्रीय जीवन के ताने बाने को और स्वाधीनता प्राप्ति के लक्ष्य को गहरी क्षति पहुंचायी।

REFERENCES

- प्रियंवद(2015) *भारतीय राजनीति के दो आख्यान*, दिल्ली, हिन्दू पाकेट बुक्स
- शरण, शंकर (2010) *साम्यवाद के सौ अपराध*, दिल्ली, अक्षय प्रकाशन
- देव, संदीप (2017) *कहानी कम्युनिस्टों की*, नई दिल्ली, ब्लूम्सबेरी पब्लिकेशन .
- लोहिया, डॉ० राममनोहर (2005) *भारत विभाजन के गुनहगार*, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन